जवाहरमल

बनाम

राजस्थान राज्य और अन्य

22 सितंबर, 1965

[पी. बी. गजेन्द्रगडकर, सी. जे., के. एन. वांचू, एम. हिदायतुल्ला, जे. सी. शाह और एस. एम. सिकरी, जे. जे.]

राजस्थान यात्री और माल कराधान (संशोधन और मान्यकरण) अधिनियम 1964 (1964 का 22), धारा 2 और 4 - अधिनियम मान्य करने वाला राज्य वित्त अधिनियम 1961 और 1962 - क्या विधायिका संविधान के अनुच्छेद 255 के ग़ैर-पालन के कारण उत्पन्न दोष को स्वयं मान्य कर सकती है - क्या पूर्वव्यापि कराधान वैध और उचित है।

राजस्थान राज्य विधानमंडल मोटर वाहनों में ले जाए जाने वाले समान और यात्रियों पर कर लगाने के लिए 1959 का अधिनियम 18 पारित किया। कर के उद्देश्य से मार्गों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया अर्थात् जिनका डामरीकरण आदि किया गया था और जिनका नहीं किया गया था। पूर्व श्रेणी की मार्गों पर ले जाए जाने वाले माल पर राज्य सरकार को अधिनियम की धारा 3 द्वारा किराया और माल ढुलाई के मूल्य के अधिकतम 1/8 वें भाग पर एवं दूसरी श्रेणी के मार्गों पर ले जाए जाने वाले माल पर अधिकतम 1/12 वें भाग पर कर लगाने हेतु अधिकृत किया गया। अधिनियम के तहत एक अधिसूचना द्वारा अधिकतम दरें 1 मई, 1959 से लागू की गई। उक्त धारा 3 को वित्त अधिनियम 1961 एवं 1962 द्वारा संशोधित किया गया ताकि उस धारा के अंतर्गत लगाए जाने योग्य अधिकतम दरों को बढ़ाया जा सके और प्रासंगिक अधिसूचनाओं में वास्तव में भी वही लगाया। 1961 और 1962 के अधिनियमों को हालांकि इस कमी का सामना करना पड़ा कि उनके संबंध में संविधान के अनुच्छेद 255 के अनुसार राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक रूप से प्राप्त नहीं की गई थी। इस दोष के निवारण हेतु 1964 का अध्यादेश क्रमांक 4 जारी किया गया। उक्त अध्यादेश को 9 सितम्बर 1964 को 1964 के अधिनियम 22 द्वारा प्रतिस्थापित किया गया, जिसके लिए राष्ट्रपति की सहमति विधिवत रूप से प्राप्त की गई। 1964 के अधिनियम की धारा 2 ने 1961 एवं 1962 के अधिनियमों द्वारा निर्मित मूल अधिनियम की धारा 3 के संशोधनों को पुनः पूर्व्यापी रूप से अधिनियमित किया गया। अधिनियम की धारा 4 ने पूर्वार्ति अधिनियमों के तहत सभी संग्रहों और शुल्कों को मान्य किया और उक्त पूर्वार्ती अधिनियमों में अनुच्छेद 255 के गैर-पालन से उत्पन्न कमी के निवारण का भी आशय किया। याचिकर्ता जिसे 1964 के अध्यादेश के तहत कर का भुगतान करने लिए

कहा गया, ने भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत याचिकाओं में उक्त अध्यादेश के साथ साथ 1964 के अधिनियम की वैधता को चुनौती दी।

याचिकाकर्ताओं की ओर से यह दलील दी गई कि विवादित अधिनियम की धारा 2 और 4 का आशय पूर्व के अमान्य वित्त अधिनियम 1961 एवं 1964 को मान्य करना है। यह आग्रह किया गया कि विधायिका के अनुच्छेद 255 के प्रावधानों का पालन करने में विफलता के कारण उक्त अधिनियमों को शुरुआत से ही अमान्य कर दिया गया और इस तरह उन्हें बाद के विधान द्वारा मान्य नहीं किया जा सका। यह भी आग्रह किया गया कि *विजय सिंह* के मामले में राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा उक्त पहले के अधिनियमों को अमान्य ठहराया गया था और अदालत के सक्षम अधिकार क्षेत्र के निर्णय के बावजूद उक्त अधिनियमों को मान्य करना राज्य विधानमंडल के लिए अक्षम होगा।

माना: (i) यह कहना तथ्यात्मक रूप से सही नहीं था कि 1961 और 1962 के अधिनियमों को सक्षम क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय द्वारा शुरू से ही अमान्य करार दिया गया था। दूसरी ओर *विजय सिंह* के मामले में उच्च न्यायालय ने मामले के उस पहलू पर अपनी सुविचारित राय देने के लिए अनावश्यक बताया था। 1964 का अधिनियम 22 9 सितंबर, 1964 को पारित किया गया था, जबकि उच्च न्यायालय का निर्णय नवंबर 1964 में दिया गया था, और इसलिए उस समय जब अधिनियम पारित किया गया था, पहले के वित्त अधिनियमों को बिल्कुल भी निरस्त नहीं किया गया था। [899 बी-ई]

विजय सिंह और एक अन्य बनाम उपायुक्त, उत्पाद शुल्क और कराधन (अपील) अजमेर और कोटा प्रभाग, जयपुर और अन्य **आई. एल. आर**. (1965) 15 राज० 285, संदर्भित किया गया।

(ii) एक अधिनियम जो इस कमी से ग्रस्त है कि वह अनुच्छेद 255 की आवश्यकताओं का पालन नहीं करता है, बाद के कानूनों द्वारा मान्य किया जा सकता है। नुच्छेद 255 स्वयं यह प्रावधान करता है कि विधायिकाया राज्य का कोई अधिनियम और ऐसे किसी अधिनियम में कोई भी प्रावधान केवल इस कारण से अमान्य नहीं होगा कि संविधान द्वारा आवश्यक कुछ प्रस्ताव या पूर्व मंजूरी नहीं दी गई थी, यदि राष्ट्रपति द्वारा अधिनियम को बाद में मंजूरी दी गई थी। यदि कोई अधिनियम राष्ट्रपति की पूर्व सहमति प्राप्त किए बिना पारित किया जाता है तो यह अमान्य नहीं होता है लेकिन तब तक अप्रवर्तनीय रहता है जब तक कि ऐसी स्वीकृति मिल नही जाती है। उक्त कमी को बाद की सहमति से ठीक किया जाता है और कानून प्रवर्तनीय हो जाता है। विधायिका भी समीचीन मामलो में पूर्व के कानून के प्रावधानों को पुनः प्रस्तुत करने के लिए एक बाद के कानून को पारित करने का मार्ग अपना सकती है जिन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिली थी और इस प्रकार संविधान द्वारा निर्धारित एसी सहमति

प्राप्त कर सकती है। कानूनी रूप से विधायिका द्वारा उल्लिखित किसी भी प्रक्रिया को अपनाने पर कोई रोक नहीं है। [899 एफ-एच; 900 ए-डी]

(iii) 1964 के अधिनियम की धारा 2 वास्तव में 1961 और 1962 के वित्त अधिनियम को इसे मान्य करने का तात्पर्य नहीं रखती है। यह मात्र मूल अधिनियम की धारा 3 की उपधारा (1) में एक परंतुक को अंत:स्थापित करके उक्त धारा को पूर्वव्यापी रूप से संशोधित करती है। धारा 2 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि धारा 2 में मूल अधिनियम की धारा 3 (1) में उक्त परंतुक अत: स्थापित करने का प्रभाव है; और चूंकि इस प्रकार किया गया संशोधन पूर्वव्यापी होता है, तब मूल अधिनियम की धारा 3 (1) में प्रस्तुत किए गए परंतुक के खंड (ए) और (बी) द्वारा शामिल की गई अवधियों पर कर लगाया जाता है, तब न्यायालय को मामले से निपटने के लिए इस आधार पर आगे बढ़ना चाहिए कि इन खंडों को प्रारंभ से ही मूल अधिनियम में पेश किया गया था, [900 ई-जी]

कानून बनाने की शक्ति में संभावित रूप से और साथ ही पूर्वव्यापी रूप से कानून बनाने की शक्ति शामिल है और इस प्रकार कर कानून किसी भी अन्य कानून से अलग नहीं है। कर लगाने की शक्ति का प्रयोग विधायिका द्वारा संभावित या पूर्व व्यापी रूप से सक्षम रूप से किया जा सकता है; और वर्तमान मामले में धारा 2 ने भी यही किया है। अत: इस तर्क में कोई सार नहीं था कि अधिनियम की धारा 2 अमान्य था। [900 एच]

(iv) 1964 के अधिनियम और इसके सभी प्रावधानों को राष्ट्रपति की सहमति मिल गई थी और इसलिए प्रथम दृष्टया अधिनियम के लिए राष्ट्रपति की सहमति से अधिनियम को पहले के अधिनियमों के प्रावधानों को मान्य करने में मदद मिलेगी जो इस तथ्य के कारण लागू करने योग्य नहीं थे कि वे अनुच्छेद 255 की आवश्यकतानुसार राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त नहीं किए थे। लेकिन राष्ट्रपति की सहमति धारा 4 को वैध बनाने का काम नहीं कर सका। [902 सी-डी]

धारा 4 सच में और सार में कहता है कि अनुच्छेद 255 का अनुपालन करने में विफलता विचाराधीन वित्त अधिनियमों को अमान्य नहीं करता है और अपने संबंधित प्रासंगिक प्रावधानों के तहत की गई या की जाने वाली किसी भी कार्रवाई को अमान्य नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में विधायिका धारा 4 द्वारा कहती प्रतीत होती है कि भले ही अनुच्छेद 255 का पहले के वित्त अधिनियमों द्वारा अनुपालन नहीं किया गया हो, परंतु यह धारा 4 को पारित करने के लिए सक्षम है जिससे यह निर्धारित करेगा कि अनुच्छेद 255 का पालन करने में विफलता वास्तव में कोई मायने नहीं रखता है और अधिनियम के लिए राष्ट्रपति की सहमति इस बात के बराबर है कि राष्ट्रपति भी इस बात से सहमत हैं कि विधायिका को यह कहने का अधिकार प्राप्त है कि अनुच्छेद 255 के साथ गैर-अनुपालन के परिणामस्वरूप कमी से कोई फर्क नहीं पड़ता। यह दृष्टिकोण पूरी तरह से गलत है। [902 डी-एफ]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि विधायिका पहले के एक अधिनियम को मान्य कर सकती है जो अनुच्छेद 255 के कारण अमान्य है और ऐसा अधिनियम राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त कर सकता है जिससे कि अधिनियम वैध हो जाएग। हालाँकि, विधायिका स्वयं एक वैधानिक प्रावधान द्वारा यह घोषणा नहीं कर सकती है कि यह अनुच्छेद 255 के अनुपालन में हुई विफलता को अपने स्वयं के अधिनियम द्वारा ठीक किया जा सकता है, भले ही उक्त अधिनियम को राष्ट्रपति की मंजूरी मिल गई हो। यहाँ तक कि राष्ट्रपति की सहमति भी अनुच्छेद 255 की संवैधानिक स्थिति को बदल नहीं सकता है। किसी भी विधायक प्रावधान द्वारा राष्ट्रपति की सहमति को किसी पूर्व अधिनियम को ऐसे समय में दी गई नहीं मानी जा सकती है जिस जबकि वह नहीं दिया गया था। इस संदर्भ में राष्ट्रपति की सहमति के संबंध में पूर्वव्यापी प्रभाव वाले प्रावधान की कोई

गुंजाइश नहीं है। विचाराधीन कमी को केवल राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करके ठीक किया जा सकता है न कि किसी भी विधायी आदेश द्वारा। धारा 4 को लागू करने में राज्य विधायिका ने स्पष्ट रूप से अपने क्षेत्राधिकार का उल्लंघन किया है। [903 ए-डी, एफ-जी]

एम. पी. वी. सुंदररामियर एंड कंपनी बनाम आंध्र प्रदेश राज्य और एक अन्य, [1958] एस. सी. आर. 1422, विशिष्ट।

(v) यह तर्क देना व्यर्थ है कि केवल इसलिए कि एक कर लगाने वाला क़ानून पूर्वव्यापी रूप से संचालित करने के लिए लागू होता है जिसमें अनुच्छेद 19 (1) (च) या (छ) के तहत अनुदत्त नागरिक के मौलिक अधिकार का उल्लंघन शामिल है। वर्तमान मामले में धारा 2 द्वारा निर्धारित प्रावधान की कानूनी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए यह संदेह हो सकता है कि मूल अधिनियम की धारा 21 में जोड़े गए परंतुक के खंड (ख) के पूर्वव्यापी संचालन में अनुचितता का कोई तत्व शामिल नहीं था। [905 डी-एफआई]

(vi) विवादित अधिनियम की धारा 2 ने कर की दरों को केवल 26 मार्च, 1962 को समाप्त होने वाली अवधि तक निर्धारित किया था। यह उस तारीख के बाद की अवधि के बारे में चुप था। इसलिए याचिकाकर्ता पर उस तारीख के बाद की अवधि के लिए धारा 2 के परंतुक के खंड (क) और (ख) के आधार पर कर नहीं लगाया जा सकता था। धारा 4 यदि यह वैध होता तो 1962 के अधिनियम द्वारा निर्धारित बढ़ी हुई दरों पर कर भी वैध होता परन्तु जबकि धारा 4 अमान्य था तो 26 मार्च, 1962 के बाद की अवधि के लिए केवल 1959 में निर्धारित दरों पर ही कर वैध और वैध रूप से लगाया जा सकता था। [906 डी-एफ]

मूल क्षेत्राधिकार- 1965 की रिट याचिका संख्या 19 भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए याचिका।

याचिकाकर्ता की ओर से *एम. एम. तिवारी और गणपत राय।*

जी. सी. कासलीवाला, महाधिवक्ता-राजस्थान, के. के. जैन और आर. एन. सचथे, उत्तरदाताओं के लिए।

न्यायालय का निर्णय **गजेंद्रगडकर सी. जे.** द्वारा दिया गया था। याचिकाकर्ता, जवाहरमल,मोटर वाहन अधिनियम, 1939 के प्रासंगिक प्रावधानों के तहत उन्हें दिए गए स्टेज कैरिज परमिट के तहत चार मार्गों पर अपनी मोटर बसों को चलाने के व्यवसाय करता है। उनकी याचिका के क्रमशः तीन उत्तरदाता हैं: राजस्थान राज्य, उपायुक्त, उत्पाद शुल्क और कराधान (अपील), जयपुर और कराधान अधिकारी, (राजस्थान मोटर वाहन) सीकर, राजस्थान राज्य। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यर्थी संख्या 3 ने अपने पाँच वाहन जो विचाराधीन चार मार्गों पर चल रहे थे, के खिलाफ विभिन्न मात्राओं में कर लगाने के कई निर्धारण आदेश पारित किए। जिन अवधियों के लिए ये मूल्यांकन आदेश पारित किए गए थे, वे वाहन-दर-वाहन में भिन्न थे; लेकिन, कुल मिलाकर, वे 1 अप्रैल, 1962 और 30 सितंबर, 1964 के बीच की अवधि को शामिल करते थे। विचाराधीन मूल्यांकन आदेशों द्वारा वाहन के संबंध में लगाए गए कर की कुल राशि 19,062 रूपए 93 पैसे थी। ये आदेश राजस्थान यात्री और माल कराधान (मान्याकरण) अध्यादेश, 1964 (1964 का अध्यादेश सं. 4) की धारा 2 के तहत पारित किए गए हैं। यह अध्यादेश 15 मई, 1964 को बनाया गया था और इसके लिए राजस्थान के राज्यपाल द्वारा प्रख्यापित किया गया।

इन आदेशों से व्यथित होकर, याचिकाकर्ता ने प्रत्यर्थी संख्या 2 के विरूद्ध अपील दायर की लेकिन प्रत्यर्थी संख्या 2 ने उक्त अपिल पर विचार करने से तब तक इनकार कर दिया जब तक कि याचिकाकर्ता ने अपील के अधीन आदेशों द्वारा लगाए गए कर का अग्रिम भुगतान नहीं किया हो। प्रत्यर्थी संख्या 2 के समक्ष अपीलों के लंबन के दौरान याचिकाकर्ता ने निर्धारित कर की वसूली के संबंध में स्थगन की मांग की, लेकिन उक्त आवेदन को इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि ऐसे किसी भी आवेदन पर विचार करने के लिए कानून में कोई प्रावधान नहीं था। इसलिए याचिकाकर्ता ने 3 फरवरी 1962 को आयुक्त, वाणिज्यिक कर, राजस्थान के समक्ष एक आवेदन प्रस्तुत किया और प्रार्थना की की मूल्यांकन के आदेशों के निष्पादन में उसकी बसों को कुर्क या बेचा न जाए, जिसके खिलाफ उसने अपील की थी, जो सुनवाई एवं अंतिम निस्तारण के लिए लंबित है। आयुक्त ने 8 फरवरी 1962 को इस आवेदन को खारिज कर दिया। प्रत्यार्थी संख्या 3 ने याचिकाकर्ता की एक बस अर्थात बस नं. आर. जे. पी.-854 को कुर्क करने की कार्यवाही की और इसे अपने कब्जे में ले लिया। तत्पश्चात याचिकाकर्ता ने विवादित आदेश द्वारा निर्धारित करों की राशि का भुगतान किया, लेकिन भुगतान विरोध के तहत किया गया था।

वर्तमान याचिका याचिकाकर्ता द्वारा संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत विचाराधीन मूल्यांकन आदेशों की वैधता को चुनौती देने के लिए दायर की गई है। मुख्य आधार जिस पर उक्त आदेशों की वैधता को चुनौती दी गई है, वह अध्यादेश है जिसके तहत विवादित आदेश पारित किए गए और राजस्थान के यात्री और माल कराधान (संशोधन और मान्याकरण) अधिनियम 1964 (1964 का सं. 22) (जिसे इसके बाद अधिनियम कहा जाता है) जिसने उक्त अध्यादेश को निरस्त और प्रतिस्थापित कर दिया गया, संवैधानिक रूप से अमान्य हैं। याचिकाकर्ता ने न्यायालय से अधिनियम को अमान्य घोषित करने और एक उचित रीट द्वारा उसके विरुद्ध पारित मूल्यांकन के आक्षेपित आदेशों को रद्द कर दिए जाने की प्रार्थना की। याचिककर्ता ने यह भी दावा किया कि उसकी याचिका के अंतिम निपटारे तक उत्तरदाताओं, उनके सेवक और अभिकर्ता को आक्षेपीत आदेशों के तहत निर्देशित करों को वसूल करने से और अन्य बसों को उक्त कर की वसूली के उद्देश्य से जप्त किए जाने से रोका जाए।

याचिकाकर्ता के इस तर्क पर विचार करने के लिए कि अधिनियम अमान्य है, अधिनियम की विधायी पृष्ठभूमि का का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रत्यर्थी संख्या 1 की विधायिका ने 1959 में एक अधिनियम पारित किया जिसे राजस्थान यात्री और माल कराधान अधिनियम, 1959 (1959 का सं. 18) के नाम से जाना जाता है (इसके बाद मूल अधिनियम ' कहा जायेगा)। इस अधिनियम को 2 अप्रैल, 1959 को राष्ट्रपति की मंजूरी मिल गई; और 30 अप्रैल, 1959 को राजस्थान राजपत्र में प्रकाशित हुआ और 1 मई, 1959 को लागू हुआ। इस अधिनियम की वैधता को इस न्यायालय द्वारा मैसर्स सैनिक मोटर्स जोधपुर और अन्य बनाम राजस्थान राज्य (1)मामले में बरकरार रखा गया है। मूल अधिनियम की धारा 3 ने राज्य सरकार को राजस्थान में मोटर वाहनों द्वारा ले जाने वाले सभी यात्रियों और माल के संबंध में सभी किराए और माल ढुलाई पर कर लगाने शुल्क लगाने और एकत्र करने के लिए अधिकृत करती है। उक्त धारा में यह भी प्रावधान है कि कर की दर सीमेंट से बनी, पक्की, डामर से बनी, धातु से बनी, बजरी और कंकड़ वाली सड़कों के मामले में किराया या माल ढुलाई के मूल्य के 1/8 हिस्से से अधिक नहीं होगी और अन्य मामलों में ऐसे मूल्य के 1/12 वे भाग से अधिक नहीं होगी जो की राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर अधिसूचित कि जाएगी।

मूल अधिनियम की धारा 21 ने राजस्थान सरकार को कर के भुगतान को सुरक्षित करने और आम तौर पर इसके प्रावधानों को लागू करने के उद्देश्यों के लिए उक्त अधिनियम के अनुरूप नियम बनाने के लिए अधिकृत किया है। तदनुसार, राजस्थान सरकार ने उपयुक्त नियम बनाए जो 21 मई, 1959 को लागू हुए। इसके बाद, प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा 30 अप्रैल, 1959 को उक्त अधिनियम की धारा 3 के तहत एक अधिसूचना जारी की गई और यह 1 मई, 1959 को लागू हुआ; इसने उस तरीके और दरों को निर्देशित किया जिस पर कर लगाया जाएगा और वसूल किया जाएगा। ये दरें वही थीं जो उसी अधिनियम की धारा 3 द्वारा अधिकतम अनुमेय दरों के रूप

में निर्धारित की गई थीं। । यह अधिसूचना 1 मई, 1959 को और से प्रभावी हुई थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मूल अधिनियम वैध है और इसके तहत जारी अधिसूचना भी वैध है।

1961 में राजस्थान वित्त अधिनियम (1961 का सं. 14) पारित किया गया। इस अधिनियम की धारा 8 का उद्देश्य मूल अधिनियम की धारा 3 में संशोधन करना है। इस संशोधन के परिणामस्वरूप, राज्य सरकार जिस अधिकतम दर पर किराया और माल ढुलाई पर कर लगा सकती थी, वसूल कर सकती थी और एकत्र कर सकती थी, उसे पहली श्रेणी के मामलों में एक तिहाई से बढ़ाकर 15 प्रतिशत कर दिया गया और दूसरी श्रेणी के मामलों में इसे एक तिहाई से बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया गया। इस वित्त अधिनियम के प्रावधानों के अनुसरण में, प्रतिवादी संख्या 1 ने 9 मार्च, 1961 को उक्त अधिकतम अनुमेय दरों पर कर लगाने के लिए एक अधिसूचना जारी की। न ही इस अधिनियम के संबंध में विधेयक को राज्य विधायिका में पेश किए जाने से पहले राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त हुई, और न ही इस अधिनियम को पारित किए जाने के बाद उनकी सहमति प्राप्त हुई।

1962 में, राजस्थान वित्त अधिनियम (1962 का सं. 11) को पारित किया गया था। इस अधिनियम की धारा 9 ने मूल अधिनियम की धारा 3 को संशोधित किया और दोनों संबंधित करों को क्रमशः 20 प्रतिशत और 15 प्रतिशत तक बढ़ाने के लिए अधिकृत किया। इसके बाद उक्त अधिनियम की धारा 9 के प्रावधानों के तहत प्रतिवादी संख्या 1 द्वारा एक अधिसूचना जारी की गई। यह अधिसूचना अधिनियम की धारा 9 के तहत अनुमेय अधिकतम दरों पर कर लगाने को अधीकृत करती है। राज्य विधायिका में पेश किए जाने से पहले इस अधिनियम के संबंध में न तो विधेयक को और न ही पारित होने के बाद इस अधिनियम को राष्ट्रपति की मंजूरी मिली।

इसके बाद वित्त अधिनियम (1963 का संख्या 13) आया। यह अधिनियम मूल अधिनियम की धारा 11 को संशोधित करने के लिए अभिप्रेत था, लेकिन इस संशोधन से हमारा वर्तमान कार्यवाहियों में कोई सरोकार नहीं हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल अधिनियम के भौतिक प्रावधानों और उसके तहत जारी नियमों और अधिसूचनाओं की संवैधानिक वैधता के साथ-साथ 1961 और 1962 के वित्त अधिनियमों और उनके तहत क्रमशः जारी अधिसूचनाओं की संवैधानिक वैधता को संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत राजस्थान उच्च न्यायालय के समक्ष कई बस चालकों द्वारा रिट याचिका दायर कर चुनौती दी गई थी। इन रिटों के लंबित रहने के दौरान 1964 का राजस्थान अध्यादेश संख्या 4 प्रख्यापित किया गया। बाद में, उक्त अध्यादेश को विचाराधीन अधिनियम द्वारा निरस्त और प्रतिस्थापित कर दिया गया। यह अधिनियम 8 सितंबर, 1964 को राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करने के बाद 9 सितंबर, 1964 को लागू हुआ।

अन्य बस संचालकों द्वारा दायर रिट याचिकाओं का फैसला 30 नवंबर, 1964 को उक्त उच्च न्यायालय द्वारा विजय सिंह और एक अन्य बनाम उपायुक्त, उत्पाद शुल्क और कराधन (अपील), अजमेर और कोटा प्रभाग, जयपुर और अन्य (1) द्वारा किया गया। संक्षेप में, उच्च न्यायालय ने उस मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि 1961 और 1962 के पूर्व वित्त अधिनियमों को इस कमी का सामना करना पड़ा कि वे संविधान के अनुच्छेद 255 की आवश्यकताओं का पालन नहीं करते थे। हालाँकि, इसने इस प्रश्न को अंतिम रूप से निर्धारित करना आवश्यक नहीं समझा कि क्या उक्त कमी के कारण उक्त पूर्व के अधिनियम शून्य थे या नहीं क्योंकि उसकी राय में 1964 का अधिनियम उस सीमित अर्थ में "केवल एक संशोधन और निवारण अधिनियम नही है , बल्कि यह वास्तव में एक ऐसा अधिनियम है जो पूर्व अधिनियमों के प्रावधानों को फिर से लागू करता है जिसमे संविधानिक कमी थी"(पी 300)। उच्च न्यायालय ने याचिकाकर्ताओं द्वारा उठाई गई दलीलों की जांच की गई कि अधिनियम के प्रावधान अमान्य थे, और याचिकाकर्ताओं के मामले को खारिज कर दिया है कि उक्त प्रावधान किसी भी संवैधानिक कमी से पीड़ित थे। नतीजतन, अधिनियम की वैधता को बढ़ाने के लिए इसके समक्ष दायर याचिकाएं विफल रहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि याचिकाकर्ताओं ने कर का भुगतान न करने के लिए जुर्माने की वसूली की वैधता को भी चुनौती दी थी, और उच्च न्यायालय ने अपने पहले के फैसलों का पालन करते हुए कहा कि इसके समक्ष मामलों में कोई भी जुर्माना लगाना अवैध होगा और इसलिए इसे निरस्त किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जुर्माना लगाने के संबंध में दी गई सीमित राहत को छोड़कर, अधिनियम की वैधता को चुनौती देने वाले याचिकाकर्ताओं द्वारा उठाए गए महत्वपूर्ण तर्क को उच्च न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया है। इस फैसले के खिलाफ, उच्च न्यायालय ने इस न्यायालय में अपील करने की अनुमति के लिए योग्यता प्रमाण पत्र प्रदान किए हैं और उक्त अपीलों में रिकॉर्ड उच्च न्यायालय में मुद्रित किया जा रहा है। इस अर्थ में, उक्त अपीलों को इस न्यायालय के समक्ष लंबित कहा जा सकता है।

विद्वान महाधिवक्ता जोकि वर्तमान रिट कार्यवाही में प्रतिनिधि की ओर से पेश हुए हैं, हमसे अनुरोध किया कि हम इस रिट याचिका की सुनवाई को स्थगित करें और इसे उन अपीलों के साथ सुने जिनका हमने अभी-अभी उल्लेख किया है। हालाँकि, हमने इस अनुरोध को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि हमने सोचा था कि वर्तमान रिट याचिका की सुनवाई को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करना सही नहीं होगा, और इसलिए, हमने विद्वान महाधिवक्ता को इस मामले पर पूरी तरह से बहस करने और हमें राजस्थान उच्च न्यायालय के फैसले के लिए संदर्भित करने की अनुमति दी, जो उक्त अपीलों में अपील के तहत है। हमने विद्वान महाधिवक्ता को स्पष्ट कर दिया कि वर्तमान रिट याचिका में हमारे निर्णय में उक्त अपीलों के निर्णय को शामिल किया जाएगा, जहां तक कि यह अधिनियम के समर्थक दृष्टिकोण की वैधता से संबंधित होगा, जो वर्तमान याचिकाकर्ता द्वारा हमारे सामने आक्षेपित हैं, न कि उस भाग से जो दंड के प्रश्न को शामिल करता है। तदनुसार, विद्वान महाधिवक्ता ने हमें प्रासंगिक बिंदुओं पर विस्तार से

संबोधित किया और विजय सिंह का मामले (1) राजस्थान उच्च न्यायालय के निर्णय के प्रासंगिक भागों से अवगत करवाया।

उत्तरदाताओं ने वर्तमान कार्यवाही में अपना लिखित बयान दाखिल किया और यह आग्रह किया कि अधिनियम के प्रासंगिक प्रावधानों की वैधता के लिए याचिकाकर्ता की चुनौती को बरकरार नहीं रखा जाना चाहिए। उनके अनुसार, यह अधिनियम संवैधानिक रूप से वैध है और मूल्यांकन के विवादित आदेश उक्त प्रावधानों द्वारा पूरी तरह से उचित हैं। इस प्रकार वर्तमान रिट याचिका में जिस मुख्य प्रश्न यह है कि क्या अधिनियम के प्रासंगिक प्रावधान मान्य हैं या नहीं।

इसलिए हम अधिनियम के प्रावधानों का उल्लेख करेंगे और जॉच करेंगे कि क्या याचिकाकर्ता द्वारा उनकी वैधता को चुनौती देना उचित है। इस अधिनियम में पाँच धाराएँ हैं। धारा 1 इसका शीर्षक बताती है; धारा 2 मूल अधिनियम की धारा 3 को संशोधित करती है; धारा 3 करके बदले में कुछ एक मुश्त भुगतानो के मान्याकरण से संबंधित है; धारा 4 का उद्देश्य राजस्थान अधिनियम 1961 के14, 1962 का 11 और 1963 का 13 की कुछ धाराओं को मान्य करना है; इसका उद्देश्य 9 मार्च, 1961 और इस अधिनियम के प्रारंभ होने की तारीख के बीच की अवधि के दौरान लगाए गए, भुगतान किए गए, या देय कर और की गई कार्यवाही या की गई चीजों को मान्य करना भी है। अंतिम धारा 5, 1964 के अध्यादेश संख्या 4 को निरस्त करता है। वर्तमान कार्यवाही में हम एक मुश्त भुगतान से संबंधित नहीं हैं और इसलिए, धारा 3 विचार करने योग्य नहीं है।

इस स्तर पर धारा 2 और 4 को निर्धारित करना सुविधाजनक है जो इस प्रकार हैं :

" 2. राजस्थान यात्री और माल कराधान अधिनियम, 1959 (1959 का राजस्थान अधिनियम 18) की धारा 3 में, जिसे इसके बाद

मूल अधिनियम के रूप में संदर्भित किया गया है, उप धारा (1), निम्नलिखित परंतुक हमेशा जोड़ा गया होगा और माना

जाएगा, अर्थात्:

बशर्ते कि मोटर वाहन द्वारा ले जाए जाने वाले सभी यात्रियों और माल की ढुलाई के संबंध में कर लगाया जाएगा-

(क) 1 मई, 1959 और 8 मार्च, 1961 के बीच की अवधि के दौरान, की दर-

(i) सीमेंटयुक्त, तारकोलयुक्त, डामरीकृत, पक्की, बजरी और कंकड़ वाली सड़कों के मामले में किराया या माल ढुलाई के मूल्य का एक-आठवां हिस्सा, और

(ii) किराया या माल ढुलाई का बारहवाँ भाग, अन्य मामलों में, किसी भी एक मामले में न्यूनतम एक नए पैसे के अधीन, कर की राशि की गणना निकटतम नए पैसे में की जा रही है; और

(ख) 9 मार्च, 1961 और 25 मार्च, 1962 के बीच की अवधि के दौरान, की दर-

(i) सीमेंटयुक्त, तारकोलयुक्त, डामरीकृत, पक्की, बजरी और कंकड़ वाली सड़कों के मामले में किराया या माल ढुलाई के मूल्य का पंद्रह प्रतिशत; और

(ii) अन्य मामलों में किराया या माल ढुलाई का दस प्रतिशत, किसी भी एक मामले में न्यूनतम एक नया पैसा के अधीन, कर की राशि की गणना निकटतम नया पैसा में की जा रही है"।

" 4. किसी भी न्यायालय के किसी भी निर्णय, डिक्री या आदेश के बावजूद, लेकिन इस अधिनियम के प्रावधानों के अधीन, राजस्थान वित्त अधिनियम, 1961 की धारा 8 (राजस्थान 1961 के अधिनियम 14), राजस्थान वित्त अधिनियम, 1962 (1962 का राजस्थान अधिनियम 11) की धारा 9 और राजस्थान वित्त अधिनियम 1963 (1963 का राजस्थान अधिनियम 13) 9 मार्च, 1961 और इस अधिनियम का प्रारंभ की तारीख के बीच की अवधि के दौरान अवैध, या कभी अमान्य नहीं माना जाएगा, केवल इस तथ्य के कारण कि विधेयक जो पूर्वोक्त अधिनियम के रूप में अधिनियमित किया गए थे, को संविधान के अनुच्छेद 304 (ब) के परंतुक के तहत राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति प्राप्त किए बिना और राष्ट्रपति की सहमति के बिना राजस्थान राज्य विधानमंडल में पेश किया गया था। और उपरोक्त अधिनियमों द्वारा संशोधित राजस्थान यात्री और माल कराधान अधिनियम, 1959 (1959 का राजस्थान अधिनियम 18) के तहत, उल्लिखित अवधि के दौरान लगाया गया, भुगतान किया गया या देय कर, भुगतान किया गया संयोजन शुल्क या देय और की गई कोई कार्रवाई या की गई चीज़ें हमेशा वैध रूप से लगाए गए, भुगतान किए गए, देय, लिए गए या विधिनुसार किए गए माने जाएँगे और उपरोक्त अधिनियम, उपरोक्त दोषों के बावजूद और तदनुसार।

(क) उपरोक्त अधिनियमों की उक्त धाराओं की अमान्यता के आधार पर भुगतान किए गए किसी भी कर या शुक्ल की वापसी या किसी अन्य राहत के लिए किसी भी अदालत में कोई मुकदमा या अन्य कार्यवाही दायर, बरकरार या जारी नहीं रखी जाएगी कोई मुकदमा या अन्य कार्यवाही शुरू नहीं की जाएगी; और

(ख) कोई भी अदालत इस तरह के किसी भी धनवापसी या राहत के लिए निर्देशित किसी डिक्री या आदेश को लागू नहीं करेगी।

याचिकाकर्ता की ओर से श्री तिवारी का तर्क है की धारा 2 और 4 का उद्देश्य 1961-62 के पहले के अमान्य वित्त अधिनियमों को मान्य करना है। उनका तर्क है कि संविधान के अनुच्छेद 255 के प्रावधानों को लागू करने में विधायिका की विफलता उक्त अधिनियम को प्रारंभ से ही अमान्य बनाती हैं और इस प्रकार, उन्हें बाद के विधान द्वारा मान्य नहीं किया जा सकता है। श्री तिवारी यह भी आग्रह करते हैं कि उक्त विजय सिंह (1) के मामले में राजस्थान उच्च न्यायालय द्वारा पहले के अधिनियमों को अमान्य ठहराया गया है और सक्षम क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय के निर्णय के बावजूद उक्त अधिनियमों को मान्य करना राज्य विधायिका के लिए अक्षम होगा।

हम इस तर्क से प्रभावित नहीं हैं। सबसे पहले, यह स्पष्ट नहीं है कि राजस्थान उच्च न्यायालय ने माना है कि उन्होंने कहा कि पहले के वित्त अधिनियम शुरू से ही अमान्य हैं; वास्तव में, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, उक्त उच्च न्यायालय ने मामले के उस पहलू पर अपनी सुविचारित राय देना अनावश्यक समझा, क्योंकि उसने यह अभिनिर्धारित किया कि 1964 का अधिनियम, जिसके साथ वह मुख्य रूप से उक्त कार्यवाही में काम कर रहा था, न केवल पहले के वित्त अधिनियमों में संशोधन या सुधार कर रहा था, बल्कि उक्त अधिनियमों के प्रावधानों को फिर से अधिनियमित कर रहा था, और इसलिए, उक्त अधिनियमों के प्रावधान अपने बल से लागू हो गए। इसलिए, तथ्यात्मक रूप से, यह कहना सही नहीं है कि उक्त पूर्ववर्ती अधिनियमों को सक्षम अधिकार क्षेत्र के किसी भी न्यायालय द्वारा शुरू से ही शून्य के रूप में निरस्त कर दिया गया है। इसके अलावा, इस तर्क की वैधता का आकलन करते समय, यह याद रखना आवश्यक है कि अधिनियम 8 सितंबर, 1964 को पारित किया गया था और राजस्थान उच्च न्यायालय का निर्णय 30 नवंबर, 1964 को सुनाया गया था; और इसलिए, यह स्पष्ट है कि जब अधिनियम पारित किया गया था, तब पहले के वित्त अधिनियमों को बिल्कुल भी निरस्त नहीं किया गया था।

विचार करने के लिए अगला प्रश्न यह है कि क्या कोई अधिनियम जो इस कमी से ग्रस्त है कि वह अनुच्छेद 255 की आवश्यकता का पालन नहीं करता है, बाद के कानून द्वारा मान्य किया जा सकता है। इस सवाल के दो जवाब हैं। अनुच्छेद 255 में अन्य बातों के साथ-साथ यह प्रावधान किया गया है कि किसी राज्य के विधायिका का कोई भी अधिनियम और ऐसे किसी अधिनियम में कोई प्रावधान केवल इस कारण से अमान्य नहीं होगा कि इस संविधान द्वारा आवश्यक कुछ प्रस्ताव या पूर्व मंजूरी नहीं दी गई थी, यदि अधिनियम को राष्ट्रपति द्वारा बाद में मंजूरी दी गई थी। उन विधियों की स्थिति के संबंध में जिनपर अनुच्छेद 255 लागू होता है अत: यह कि यदि अधिनियम पारित होने के बाद भी विचाराधीन सहमति दी जाती है, तो यह इसके प्रावधानों के प्रारंभिक गैर-अनुपालन से उत्पन्न कमी को ठीक करने का काम करता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई अधिनियम राष्ट्रपति की पूर्व सहमति प्राप्त किए बिना पारित किया जाता है, तो यह उक्त कमी के कारण अमान्य नहीं हो जाता है; इसे तब तक अप्रवर्तनीय कहा जा सकता है जब तक कि सहमति प्राप्त नहीं हो जाती। यह मानते हुए कि ऐसा कानून अन्यथा वैध है, इसकी वैधता को केवल इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि राष्ट्रपति की

सहमति पहले प्राप्त नहीं की गई थी जैसा कि संविधान के अन्य प्रासंगिक प्रावधानों द्वारा आवश्यक है। उक्त कमी बाद की सहमति से ठीक हो जाती है और कानून लागू करने योग्य हो जाता है। यह विचार करने के लिए वर्तमान कार्यवाहियों के उद्देश्य के लिए आवश्यक है कि जब ऐसा कोई कानून लागू करने योग्य हो जाता है, तो क्या बाद की सहमति इसे उस तारीख से लागू करने योग्य बनाती है जब उक्त कानून लागू होना कथित था, या क्या यह अपनी बाद की सहमति की तारीख से लागू करने योग्य हो जाता है। इसके अलावा, यह स्पष्ट है कि विधायिका, एक उपयुक्त मामले में, पूर्ववर्ती कानून के उन प्रावधानों को फिर से पेश करने के लिए एक उप-स्वतंत्र कानून पारित करने की प्रक्रिया अपना सकती है, जिन्हें राष्ट्रपति की सहमति नहीं मिली थी, और संविधान द्वारा निर्देशानुसार उनकी सहमति प्राप्त कर सकती है। हम इस तर्क में कोई सार नहीं देखते हैं कि एक अधिनियम जिसनेअनुच्छेद 255 के प्रावधानों का पालन नहीं किया है, बाद के विधान द्वारा मान्य नहीं किया जा सकता है, भले ही ऐसा बाद का अधिनियम अनुच्छेद 255 का अनुपालन करता हो और संविधान द्वारा विहित राष्ट्रपति की अपेक्षित सहमति प्राप्त करता है। क्या अधिनियम में कमी जो अनुच्छेद 255 के प्रावधानों का पालन करने में विफल रही है , राष्ट्रपति की बाद की सहमति प्राप्त करके या पूर्ववर्ती कानून के प्रावधानों को फिर से अधिनियमित करके और ऐसे अधिनियम के लिए राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करके बाद के अधिनियम को पारित करके ठीक किया जाना चाहिए, एक ऐसा मामला है जिसे विधायिका किसी दिए गए मामले की परिस्थितियों में तय कर सकती है। कानूनी रूप से, उक्त दो प्रक्रियाओं में से किसी को भी अपनाने के लिए विधायिका पर कोई रोक नहीं है। इसलिए, अधिनियम की वैधता के खिलाफ श्री तिवारी द्वारा उठाई गई प्रारंभिक आपत्ति विफल हो जाती है।

यह हमें अधिनियम की धारा 2 और 4 के निर्माण की ओर ले जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि धारा 2 वास्तव में 1961 और 1962 के पूर्ववर्ती वित्त अधिनियमों को मान्य करने के लिए अभिप्रेत नहीं है। यह मात्र मूल अधिनियम की धारा 3 को पूर्वव्यापी रूप से उक्त धारा की उपधारा (1) में एक परंतुक अंत:स्थापित करके संशोधित करना है। इसे देखने से ही स्पष्ट है धारा 2 का मूल अधिनियम की धारा 3 (1) में उक्त परंतुक को अंत: स्थापित करने का प्रभाव पड़ता है; और चूंकि इस प्रकार किया गया संशोधन, संदर्भ में, पूर्वव्यापी है, जब मूल अधिनियम की धारा 3(1) में इस प्रकार प्रस्तुत किए गए परंतुक के खंड (ए) और (बी)के अंतर्गत आने वाली अवधि के लिए कर लगाया जाता है, न्यायालय को इस आधार पर मामले से निपटने के लिए आगे बढ़ना चाहिए कि ये खंड प्रारंभ से ही प्रधान अधिनियम में प्रस्तुत किए गए थे। हम पहले ही देख चुके हैं कि इस न्यायालय द्वारा मूल अधिनियम को वैध ठहराया गया है और इसलिए, हम इस तर्क का कोई आधार नहीं देखते हैं की अधिनियम की धारा 2 द्वारा मूल अधिनियम की धारा 3 (1) में संशोधन करके किसी भी संवैधानिक निषेध का उल्लंघन किया गया है।

यह सर्वविदित है कि कानून बनाने की शक्ति में संभावित रूप से और साथ ही पूर्वव्यापी रूप से कानून बनाने की शक्ति शामिल हैं , और इस प्रकारर, कर कानून किसी भी अन्य कानून से अलग नहीं है। यदि विधायिका कर लगाने का निर्णय लेता है, तो वह ऐसा कर या तो संभावित रूप से या यहाँ तक कि पूर्वव्यापी रूप से लगा सकता है। जब किसी कर को लागू करने के लिए पूर्वव्यापी कानून पारित किया जाता है, तो संभावित मामलों में इस बात पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि ऐसा पूर्वव्यापी कराधान उचित है या नहीं। लेकिन मामले के इस सैद्धांतिक पहलू के अलावा, कर लगाने की शक्ति का उपयोग कानून द्वारा या तो संभावित रूप से या पूर्वव्यापी रूप से किया जा सकता है; और धारा 2 ने ठीक यही वर्तमान मामले में किया है। इसलिए, इस तर्क में कोई सार नहीं है कि अधिनियम की धारा 2 अमान्य है।

जैसा कि धारा 2 से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके द्वारा मूल अधिनियम की धारा 3 (1) के परंतुक में खंड (ए) जोड़ा गया है, में 1 मई, 1959 और 8 मार्च, 1961 के बीच की अवधि शामिल है, जबकि खंड (बी) में 9 मार्च, 1961 और 25 मार्च, 1962 के बीच की अवधि शामिल है। वास्तव में पहली अवधि पहले से ही मूल अधिनियम की धारा 3 के तहत 30 अप्रैल, 1959 को वैध रूप से जारी एक अधिसूचना द्वारा शामिल की गई थी; और इसलिए, यह समझना आसान नहीं है कि उक्त पूर्वव्यापी संशोधन द्वारा इस अवधि का उल्लेख करना क्यों आवश्यक समझा गया था। दूसरी अवधि को 1961 के वित्त अधिनियम 14 और उसके तहत जारी अधिसूचना द्वारा शामिल करने का प्रयास किया गया था। उक्त अधिसूचना के प्रावधानों को प्रभावी बनाने के लिए, विधायिका ने उक्त प्रावधानों को संशोधन का हिस्सा बनाने की वैध समीचीनता को अपनाया है जिसे मूल अधिनियम की धारा 3 (1) में प्रस्तुत कराया गया है ; और इसलिए, खंड (बी) द्वारा निर्धारित दरों को उक्त पूर्वव्यापी संशोधन के दौरान वैध रूप से लगाया जा सकता है। दूसरी अवधि 1962 का वित्त अधिनियम 11 थी और इसके तहत जारी अधिसूचना को धारा 2 द्वारा प्रस्तुत किए गए पूर्वव्यापी संशोधन में शामिल नहीं किया गया है ; यह अवधि 26 मार्च, 1962 और 9 सितंबर, 1964 के बीच है और इसलिए, उक्त वित्त अधिनियम के प्रासंगिक प्रावधानों के तहत जारी अधिसूचना द्वारा निर्धारित दरों को धारा 2 द्वारा किए गए संशोधन द्वारा पुनः अधिनियमित नहीं किया गया है। दूसरे शब्दों में, धारा 2 वित्त अधिनियम 1962 का 11 के तहत जारी अधिसूचना द्वारा निर्धारित दरों को पूर्वव्यापी संशोधन द्वारा पुनः लागू करना अभिप्रेत नहीं है। हम यह दृष्टिकोण अपनाने के इच्छुक हैं कि अधिनियम के प्रारूप तैयार करने वालों ने उक्त परंतुक में पहली अवधि का अनावश्यक रूप से उल्लेख किया है, और निरीक्षण के माध्यम से तीसरी अवधि का उल्लेख करने में विफल रहे हैं। यह कमी दर्शाती है कि धारा 2 का प्रारूपण आकस्मिक और कुछ हद तक लापरवाह रहा है। जैसा कि हम वर्तमान में इंगित करेंगे, परिणाम यह होगा कि 1962 के वित्त अधिनियम 11 के तहत जारी अधिसूचना द्वारा 26 मार्च, 1962 और 9 सितंबर, 1964 के बीच की अवधि के लिए निर्धारित उच्च दरें अधिनियम की धारा 4 के सामान्य प्रावधानों द्वारा सुरक्षित नहीं की गई हैं। अब हमें उक्त प्रावधानों की ओर रुख करना चाहिए।

धारा 4 में तीन भाग हैं। इसके पहले भाग में, यह प्रावधान है कि इसके द्वारा प्रगणित किए गए तीन वित्त अधिनियमों की कई धाराओं को अमान्य नहीं माना जाएगा, या निर्दिष्ट अवधि के दौरान, केवल इस तथ्य के कारण कभी भी अमान्य नहीं माना जाएगा कि संविधान के अनुच्छेद 255 का पालन नहीं किया गया था। उक्त धारा के भाग 2 में अन्य बातों के साथ-साथ यह प्रावधान किया गया है कि उक्त निर्दिष्ट अधिनियमों द्वारा संशोधित अवधि के दौरान लगाया गया, भुगतान किया गया या देय कर हमेशा वैध रूप से लगाया गया, भुगतान किया गया या भुगतान करने में सक्षम माना जाएगा और भाग 3 में यह निर्धारित किया गया है कि उपरोक्त अधिनियम, उपरोक्त दोषों के बिना, हमेशा वैध रूप से अधिनियमित होंगे और माने जाएंगे। हमारे निर्णय के लिए यह प्रश्न उठता है कि क्या यह धारा वैध है।

इस प्रश्न से निपटने में, हमें निश्चित रूप से इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि अधिनियम और इसके सभी प्रावधानों को राष्ट्रपति की सहमति मिल गई है और इसलिए, प्रथम दृष्टया, अधिनियम के लिए राष्ट्रपति की सहमति से अधिनियम को पहले के अधिनियमों के प्रावधानों को मान्य करने में मदद मिलेगी जो इस तथ्य के कारण प्रवर्तनीय नहीं थे कि उन्होंने अनुच्छेद 255 द्वारा आवश्यक रूप से उनकी सहमति प्राप्त नहीं की थी। लेकिन क्या अधिनियम के लिए राष्ट्रपति की सहमति से धारा 4 को वैध बनाने का उद्देश्य पूरा हो सकता है? धारा 4 वस्तुतः और सारतः यह कहती है कि अनुच्छेद 255 की आवश्यकताओं का पालन करने में विफलता विचाराधीन वित्त अधिनियमों को अमान्य नहीं करेगा और उनके संबंधित प्रासंगिक प्रावधानों के तहत की गई या की जाने वाली किसी भी कार्रवाई को अमान्य नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में, विधायिका धारा 4 द्वारा कहता प्रतीत होता है कि भले ही अनुच्छेद 255 का पहले के वित्त अधिनियमों द्वारा अनुपालन नहीं किया गया हो, परंतु यह धारा 4 को पारित करने के लिए सक्षम है जिसके द्वारा यह निर्धारित करेगा कि अनुच्छेद 255 का पालन करने की विफलता वास्तव में कोई मायने नहीं रखता है, और अधिनियम के लिए राष्ट्रपति की सहमति इस बात के बराबर है कि राष्ट्रपति इस बात से भी सहमत हैं कि विधायिका को यह कहने का अधिकार है कि अनुच्छेद का पालन न करने के परिणामस्वरूप कमी से कोई फर्क नहीं पड़ता। हमारी राय में, विधायिका यह घोषित करने में अक्षम है कि अनुच्छेद 255 का पालन करने में विफलता का कोई परिणाम नहीं है; और ससम्मान, ऐसी घोषणा के लिए राष्ट्रपति की सहमति भी उस उद्देश्य को पूरा नहीं करती है जिसे बाद में अनुच्छेद 255 के तहत राष्ट्रपति द्वारा मंजूरी दी जाती है।

विद्वान महाधिवक्ता ने हमारे समक्ष दृढ़ता से तर्क दिया है कि हमें मामले के सार को देखना चाहिए और धारा 4 की वैधता तय नहीं करनी चाहिए केवल इसलिए कि इसमें उपयोग किए गए शब्द सुखद या उपयुक्त न हो। हम इस बात से सहमत हैं कि इस प्रकार के प्रश्नों का निर्णय सार के आधार पर किया जाना चाहिए न कि केवल प्रारूप के आधार पर, और हमने विद्वान महाधिवक्ता की बहस पर विचार करने के साथ-साथ धारा 4 को यथासंभव उसके अनुकुल पढ़ने की कोशिश की है, लेकिन धारा 4 के तीनों भागों में उपयोग किए गए शब्द स्पष्ट और असंदिग्ध

हैं; जो इंगित करते हैं कि विधायिका ने सोचा कि वह अपनी विधायी प्रक्रिया द्वारा अनुच्छेद 255 का पालन न करने से होने वाली कमी का निवारण करने में सक्षम था, जब इसने पूर्ववर्ती वित्त अधिनियमों को पारित किया था और संभवतः यह सलाह दी गई थी कि ऐसी विधायी घोषणा वैध और प्रभावी होगी, बशर्ते इसे राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त हो। हमारी राय में, इस मामले में विधायिका द्वारा अपनाया गया दृष्टिकोण पूरी तरह से गलत है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि विधायिका पहले के एक अधिनियम को मान्य कर सकता है जो अनुच्छेद 255 का पालन न करने के कारण अमान्य है और ऐसा अधिनियम राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त कर सकता है जो अधिनियम को प्रभावी बनाएगा। हालाँकि, विधायिका स्वयं एक वैधानिक प्रावधान द्वारा यह घोषित नहीं कर सकता है कि वह अनुच्छेद 255 का पालन करने में विफलता को अपने स्वयं के अधिनियम द्वारा ठीक किया जा सकता है, भले ही उक्त अधिनियम को राष्ट्रपति की मंजूरी मिल गई हो। हमारी राय में, राष्ट्रपति की सहमति भी अनुच्छेद 255 के तहत वास्तविक संवैधानिक स्थिति को नहीं बदल सकती है। किसी भी विधायी प्रक्रिया द्वारा, यह नहीं माना जा सकता है कि राष्ट्रपति की सहमति किसी पूर्ववर्ती अधिनियम को ऐसे समय में दिया गया था जबकि वास्तव में ऐसी सहमति नहीं दी गई थी। इस संदर्भ में राष्ट्रपति की सहमति के संबंध में पूर्वव्यापी प्रावधान की कोई गुंजाइश नहीं है। यह कुछ हद तक दुर्भाग्यपूर्ण है कि धारा 2 का आकस्मिक प्रारूपण 1962 के अधिनियम 11 और उसके तहत जारी अधिसूचना द्वारा शामिल की गई अवधि को पहले की तरह अप्रवर्तनीय छोड़ देता है, और धारा 4 के सर्वव्यापी और सामान्य प्रावधान का उक्त अवधि के संबंध में कोई मदद नहीं है।

विद्वान महाधिवक्ता ने धारा 4 के अंतिम भाग पर दृढ़ता से निर्भर किया। इस भाग में यह प्रावधान किया गया है कि उपरोक्त अधिनियम, उपरोक्त दोषों के बावजूद, हमेशा वैध रूप से अधिनियमित होंगे और हमेशा माने जाएंगे। खंड "उपरोक्त दोषों के बावजूद" दृढ़ता से इस तथ्य की ओर इशारा करता है कि विधायिका ने सोचा था कि वह पूर्वव्यापी रूप से कानून बना सकता है, और इस तरह के पुनरावर्ती कानून द्वारा, यह स्वयं ही विचाराधीन कमी को ठीक कर सकता है। विधायिका द्वारा जिस बात की अनदेखी की गई है, वह यह है कि विचाराधीन कमी को केवल राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करके ठीक किया जा सकता है, न कि किसी विधायी आदेश द्वारा। हमने धारा 4 के शब्दों द्वारा उठाई गई समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है और हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इसकी वैधता को बनाए रखना संभव नहीं होगा। कई मौकों पर, इस न्यायालय ने इस तथ्य के बावजूद मामले के सार को देखने और मुद्दे को निर्धारित करने की कोशिश की है कि प्रासंगिक पक्ष में उपयोग किए गए शब्द या अभिव्यक्तियाँ या तो अनुचित या निरस हैं। लेकिन वर्तमान मामले में, हम धारा 4 के प्रावधानों को भले ही परोपकारी या अनुकूल रूप से देखें, हम इस निष्कर्ष से बच नहीं पाते हैं कि इसे अधिनियमित करने में, विधायिका ने स्पष्ट रूप से यह मान लिया है कि वह अनुच्छेद 255 का पालन न करने के परिणामस्वरूप होने वाली कमी को अपने आप ठीक कर सकता है और ऐसे मामले में उसे ऐसी कमी को ठीक करने की अपनी शक्ति के बारे में अपने स्वयं के दृष्टिकोण के लिए राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त करनी है। हम

इससे संतुष्ट हैं कि यह आवश्यक है कि अनुच्छेद 255 के दायरे और प्रभाव के संबंध में वास्तविक स्थिति को भविष्य में होने वाली किसी भी गलतफहमी से बचने के लिए स्पष्ट रूप से सामने लाया जाना चाहिए।

उनके इस तर्क के समर्थन में कि विधायिका द्वारा धारा 4 को अधिनियामित करने में अपनाया गया प्रारूप अनुचित नहीं है, विद्वान महाधिवक्ता ने हमें इस न्यायालय द्वारा पारित एक निर्णय *एम. पी. वी. सुंदररामियर एंड कंपनी बनाम आंध्र प्रदेश राज्य और एक अन्य* [(1)] का उल्लेख किया। यह सच है कि उस मामले में बिक्री कर कानून वैधीकरण अधिनियम, 1956 (1956 का सं. 7) जो एक केंद्रीय अधिनियम है, की धारा 2 में अधिनियम की धारा 4 में अपनाए गए पदावली के समान पदावली का उपयोग किया गया है ; परंतु उक्त प्रावधान की तुलना धारा 4 के साथ करना गलत होगा, क्योंकि प्रतिबंध जो की उक्त अधिनियम धारा 2 हटाने हेतु आशायित है, को संसदीय क़ानून द्वारा वैध रूप से हटाया जा सकता है। प्रासंगिक समय पर लागू संविधान के अनुच्छेद 286 (2) में अन्य बातों के साथ-साथ यह प्रावधान किया गया था कि जब तक संसद कानून द्वारा अन्यथा प्रावधान न करे, किसी राज्य का कोई भी कानून माल की बिक्री या खरीद पर कर नहीं लगाएगा या लागू करने को अधिकृत नहीं करेगा, जहां ऐसी बिक्री या खरीद अंतर-राज्यीय व्यापार या वाणिज्य के क्रम में होती है। क्या उक्त अधिनियम की धारा 2 का उद्देश्य अनुच्छेद 286 (2) द्वारा स्पष्ट रूप से प्राधिकृत कानून बनाना था ; और स्वाभाविक रूप से उक्त प्रावधान द्वारा उसे प्रदत्त शक्ति का प्रयोग करते हुए, इसने धारा 2 के प्रावधानों को अधिनियमित किया और उन्हें पूर्वव्यापी बनाया। यह महत्वपूर्ण है कि प्रतिबंध को हटाने की शक्ति जिनका प्रयोग पूर्वव्यापी रूप से संसद द्वारा किया गया था, संसद में निहित थी, न की राष्ट्रपति जैसे किसी बाहरी प्राधिकरण में; और इसलिए, संसद कई राज्य अधिनियमों को मान्य करने एवं उनके पूर्वव्यापी संचालन के प्रावधान के लिए पूरी तरह से सक्षम थी, जिन्हें अनुच्छेद 286 (2) द्वारा अधिकृत कानून बनाने के विधायी समीचीन को अपनाकर अमान्य माना गया था। धारा 4 के संबंध में स्थिति तार्किक और मौलिक रूप से भिन्न है; जिस कमी ने पहले के वित्त अधिनियमों को अप्रवर्तनीय बना दिया था, उसे विधायिका द्वारा स्वयं कार्य करके नहीं, बल्कि राष्ट्रपति की सहमति से ठीक किया जा सकता था; और जहाँ तक विधायिका द्वारा धारा 4 को लागू करके अपने स्वयं के आदेश द्वारा यह निर्धारित करने का तात्पर्य की विचाराधीन कमी को निवारित माना जाए; यह स्पष्ट रूप से अपने विधायी क्षेत्राधिकार को पार कर गया है। इसलिए, हमें नहीं लगता कि *सुंदररामियर एंड कंपनी के मामले*[(1)] में इस न्यायालय का निर्णय विद्वान महाधिवक्ता को उनके इस तर्क के समर्थन में कोई मदद कर सकता है कि धारा 4 वैध रूप से अधिनियमित किया गया है।

एक बिन्दु और है जिस पर अभी भी विचार किया जाना शेष है। श्री तिवारी ने आग्रह किया कि अधिनियम की धारा 2 द्वारा मूल अधिनियम की धारा 3(1) में किए गए संशोधन का पूर्वव्यापी संचालन को असंवैधानिक माना जाना चाहिए क्योंकि धारा 2 द्वारा अंतर स्थापित परंतु

के खंड (ख) द्वारा निर्धारित प्रावधान का पूर्वव्यापी संचालन इस कमी से ग्रस्त है कि यह पूर्वव्यापी रूप से बढ़े हुए कर शुल्क को लागू करता है। उनका तर्क है कि जहां एक कर कानून पूर्वव्यापी रूप से एक कर लगाने का आशय रखता है, इसमें अनिवार्य रूप से अनुचितता का तत्व शामिल होता है और यह वस्तुतः संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (च) या (छ) द्वारा अनुदत्त नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने के बराबर है। वर्तमान रिट याचिका के उद्देश्य के लिए, हम यह मान लेंगे कि राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के तहत जारी आपातकाल की उद्घोषणा के बावजूद अनुच्छेद 358 के तहत लगाई गई संवैधानिक बाधा याचिकाकर्ता के विरुद्ध लागू नहीं होता है क्योंकि वह उद्घोषणा की तारीख से पहले अपने मौलिक अधिकार के उल्लंघन पर निर्भर करता है। इसी धारणा पर हम श्री तिवारी द्वारा उठाए गए विवाद से निपटना चाहते हैं। हमारी राय में, उक्त तर्क स्पष्ट रूप से निराधार है। हम पहले ही कह चुके हैं कि कानून बनाने की शक्ति में उन्हें संभावित और साथ ही पूर्वव्यापी रूप से प्रभावी बनाने की शक्ति शामिल है, और कर कानून इस नियम के लिए कोई अपवाद नहीं हैं। इसलिए, यह तर्क देना व्यर्थ होगा कि केवल इसलिए कि एक कर कानून पूर्वव्यापी रूप से काम करने का आशय रखता है, पूर्वव्यापी संचालन में अनुच्छेद 19 (1) (च) या (छ) के तहत कर लगाए गए नागरिक के मौलिक अधिकार का उल्लंघन शामिल है। । यह सच है कि ऐसे मामले हो सकते हैं जहां न्यायालय को इस प्रश्न पर विचार करना पड़ सकता है क्या कर कानून द्वारा निर्धारित अत्यधिक पूर्वव्यापी संचालन नागरिकों के मौलिक अधिकार का उल्लंघन है और ऐसे प्रश्न से निपटने में, न्यायालय को कराधान के संबंध में सभी प्रासंगिक और सम्बन्धित तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखना होगा। वर्तमान मामले में, धारा 2 द्वारा निर्धारित प्रावधान की विधायी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, इसमें थोड़ा संदेह हो सकता है कि उक्त धारा द्वारा जोड़े गए मूल अधिनियम की धारा 3(1) के परंतुक का खंड (ख) में पूर्वव्यापी संचालन में अनुचितता का कोई तत्व शामिल नहीं है।

परिणाम यह है कि अधिनियम की धारा। 2 का कर वैध है और प्रश्नगत कर को याचिकाकर्ता से परंतुक के खंड (क) और (ख) द्वारा जैसा कि उसमें विहित किया गया है, शामिल की गई अवधि के लिए वसूल किया जा सकता है। इस संबंध में, यह याद किया जाएगा कि परंतुक के खंड (क) द्वारा निर्धारित प्रावधान वास्तव में अनावश्यक है, क्योंकि उसी कर को मूल अधिनियम की धारा 3 के तहत 30 अप्रैल, 1959 को जारी अधिसूचना के तहत निर्धारित दरों पर वैध रूप से वसूल किया जा सकता था। लेकिन जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, 26 मार्च, 1962 से 9 सितंबर, 1964 के बीच की अवधि को धारा 2 द्वारा मूल अधिनियम की धारा 3(1) में अंतः स्थापित प्रावधान द्वारा शामिल नहीं की गई है; और इसलिए धारा 2 के प्रावधान वित्त अधिनियम, 1962 का 11 की धारा 9 द्वारा शुरू में निर्धारित बढ़ी हुई दरों पर याचिकाकर्ता के विरुद्ध कर लगाने में उत्तरदाताओं को कोई सहायता नहीं करती है। यदि हमने धारा 4 को वैध करार दिया होता तो उक्त धारा 9 द्वारा निर्धारित बढ़ी हुई दरों पर कर का अधिरोपण भी वैध होता; लेकिन इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि हम इस निष्कर्ष पर आ गए हैं की धारा 4 यह अमान्य है, इस प्रकार जो कर याचिकाकर्ता के विरुद्ध उक्त अवधि के लिए विधिपूर्ण और वैध

रूप से लगाया जा सकता है, वह मूल अधिनियम की धारा 3 के तहत 30 अप्रैल, 1959 को जारी अधिसूचना के तहत लगाया जाना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्री तिवारी ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए तर्क देने का प्रयास किया कि उक्त धारा 3 को 1962 के वित्त अधिनियम 11 की धारा 9 द्वारा संशोधित किया गया था, मूल अधिनियम की मूल धारा 3 के तहत जारी अधिसूचना प्रभावी नहीं रह जाती है। यह तर्क स्पष्ट रूप से गलत है। यदि उक्त वित्त अधिनियम अप्रवर्तनीय है और इसके तहत जारी अधिसूचना का कोई प्रभाव नहीं है, तो मूल अधिनियम की धारा 3 का विचाराधीन अवधि के लिए संशोधन नहीं किया गया होता और इसके तहत शुरू में जारी किया गया अधिसूचना प्रवर्तित रहता।

इस निष्कर्ष के परिणाम यह इस प्रकार है कि याचिकाकर्ता यह दावा करने का हकदार है कि 26 मार्च, 1962 और 9 सितंबर, 1964 के बीच की अवधि के लिए उसके वाहनों के संबंध में बढ़ी हुई दरों पर उसके विरुद्ध निर्धारित कर अमान्य है और संबंधित कर अधिकारियों को मूल अधिनियम की धारा 3 के तहत 30 अप्रैल, 1959 को जारी अधिसूचना द्वारा निर्धारित दरों पर कर लगाना होगा जैसा कि यह मूल रूप से था। यह सच है कि यह परिणाम बहुत विसंगत लगता है, क्योंकि विचाराधीन अवधि से ठीक पहले की अवधि के लिए, कर वैध रूप से बढ़ी हुई दरों पर वसूली योग्य है, जबकि विचाराधीन अवधि के लिए इसे कम दर पर पुनर्प्राप्त किया जाना है; लेकिन, इस विसंगति के लिए अधिनियम की धारा 2 और 4 का दोषपूर्ण प्रारूपन पूर्णतः उत्तरदायी है।

इस याचिका पर विचार करने से पहले, न्यायालय इस न्यायालय के दो निर्णय का संक्षेप में उल्लेख करना चाहेगी जिनका संदर्भ न्यायालय के समक्ष बहस के दौरान दिया गया था। राय रामकृष्ण और अन्य बनाम बिहार राज्य [(1)]में, यात्रियों और वस्तुओं पर बिहार कराधान(सार्वजनिक मोटर वाहनों द्वारा वहित) अधिनियम, 1961 (1961 का सं. 17) की वैधता को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि उसने एक अमान्य वित्त अधिनियम के तहत पहले से वसूल किए गए करों को मान्य करने की मांग की थी। इस तर्क को इस आधार पर खारिज किया जाता है कि अवैध रूप से वसूल किए गए कर का इस तरह का पूर्वव्यापी मान्यकरण अनुच्छेद 19 (1) (च) या (छ), के तहत नागरिकों के मौलिक अधिकार का उल्लंघन है। इस न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि यदि इसकी आवश्यक विशेषताओं में कर लगाने का कानून उस विधानमंडल की क्षमता के भीतर है जिसने इसे पारित किया था, इसका चरित्र केवल इसके पूर्वव्यापी संचालन से आवश्यक रूप से नहीं बदला जाता है ताकि उक्त पूर्वव्यापी संचालन को या तो अनुचित या इसकी 'विधायी क्षमता' के बाहर किया जा सके।

इस न्यायालय ने इस प्रकार का विचार *जावराचीनी मिल (प्रा.) लिमिटेड वी. मध्य प्रदेश राज्य और अन्य* [(1)] में भी व्यक्त किया है।

परिणाम यह है कि रिट याचिका को आंशिक रूप से अनुमति दी जाती है और मूल्यांकन के आपेक्षित आदेश जहां तक की वे 26 मार्च, 1962 और 9 सितंबर, 1964 के बीच की अवधि से संबंधित हैं, को अपास्त किया जाता है, और यह न्यायालय मूल्यांकन अधिकारियों को इस निर्णय के आलोक में उचित मूल्यांकन शुल्क लगाने का निर्देश देते हैं। शेष अवधि के संबंध में मूल्यांकन आदेश वैध हैं और याचिकाकर्ताओं का अनुरोध कि उन्हें अपास्त कर दिया जाए, खारिज किया जाता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि याचिकाकर्ता केवल आंशिक रूप से सफल हुआ है, यह न्यायालय पक्षों को अपना खर्च स्वयं वहन करने का निर्देश देती है।

याचिका को आंशिक
रूप से अनुमति दी गई।

(1) [1966] 1 एस. सी. आर. 518

Anjali Sinha

JMFC cum AM
Muzaffarpur
(West)